Research Reinforcement | A Peer Reviewed International Refereed Journal | ISSN 2348-3857
Vol. 13, Issue 2 | November 2025 - April 2026 | pp. 23-29

निरपेक्षतावाद से अराजकतावाद तक : हीगल, मार्क्स एवं गांधी के राज्य-दर्शन का तुलनात्मक अन्वेषण

ISSN 2348-3857

डॉ. विनीता नायर
सहायक आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)

शोध सारांश

मानव चिंतन के इतिहास में राज्य की सत्ता और व्यक्ति की स्वतंत्रता का द्वंद्व एक केंद्रीय दार्शनिक प्रश्न रहा है। प्रस्तुत शोध-पत्र 'निरपेक्षतावाद' से 'अराजकतावाद' तक के वैचारिक विस्तार का हीगल, मार्क्स और गांधी के विशेष संदर्भ में एक तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। शोध के प्रथम चरण में हीगल के 'प्रत्ययवादी' दृष्टिकोण की समीक्षा की गई है, जो राज्य को एक स्वयंभू नैतिक सत्ता और ईश्वर का धरती पर अवतरण मानते हुए निरपेक्षतावाद का समर्थन करते हैं। इसके विपरीत, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के धरातल पर मार्क्सवादी दर्शन राज्य को वर्ग-संघर्ष का यंत्र मानता है, जिसका परिणाम अंततः राज्य के 'लोप' में निहित है। शोध का मुख्य प्रतिपाद्य गांधी जी का 'स्वराज' है, जो दार्शनिक अराजकतावाद की एक अद्वितीय भारतीय अभिव्यक्ति है। गांधी जी राज्य को एक 'आत्म-हीन यंत्र' मानते हुए सत्ता के पूर्ण विकेंद्रीकरण और 'महासमुद्राकार वृत्त' की संरचना द्वारा व्यक्ति की आत्मिक स्वतंत्रता को सर्वोपरि रखते हैं। यह अध्ययन यह निष्कर्ष निकालता है कि जहाँ हीगल राज्य को 'साध्य' मानते हैं, वहीं मार्क्स और गांधी इसे 'साधन' या दमन का माध्यम मानकर इससे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। अंततः यह पत्र गांधीवादी स्वराज को आधुनिक लोकतांत्रिक समस्याओं के एक नैतिक विकल्प के रूप में स्थापित करता है।

संकेताक्षर—*निरपेक्षतावाद, अराजकतावाद, हीगल, मार्क्स, गांधी, राज्य-दर्शन, स्वराज, विकेंद्रीकरण, नैतिक स्वतंत्रता*

प्रस्तावना

कालक्रम में मकदूनियो एवं रोम के साम्राज्यों में 'पोलिस' बृहत्तर एकांश में अन्तर्मुक्त कर लिया गया होगा तथापि यह अन्तर्मुक्ति उसे आत्मसात् किये बिना हुई होगी और वह उसके बावजूद निष्ठा का केन्द्र बना रहा। उसकी प्रशासन पद्धति अपने नागरिकों की श्रद्धा प्राप्त करती रही, उनकी वदान्यता को प्रोत्साहित करती रही और राजनीतिक जीवन की जिस बृहत्तर योजना में उसे समाविष्ट किया गया था उसके अन्तर्गत रहकर ही नहीं बल्कि उसे समानान्तर रहकर अपना कर्त्तव्य निभाती रही।[1]

दार्शनिकों का एक सम्प्रदाय पाइथागोरसवादियों का था "जिसने न केवल यूनानी दर्शन को बल्कि यूनानी राजनीति को भी प्रभावित किया था।[2] उनकी शिक्षा थी कि व्यक्ति को समष्टि के अधीन रहकर सार्वजनिक कल्याण के लिए अनिवार्यतः कार्य करना चाहिए। वे इससे सहमत थे कि चूंकि सबका कल्याण राज्य पर ही निर्भर है अतः उसे सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करना बिल्कुल युक्तिसंगत है। इसके पीछे तर्क यही था कि राज्य को बल प्रदान करने से अन्तोगत्वा व्यक्ति का ही भला होगा।[3] "राज्य नैतिक व्यवस्था के सदृश था, जिसका सदस्य प्रत्येक नागरिक था।" यहाँ तक कि "नगर का सिद्धान्त एक ही साथ नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र भी था।"[4]

पाइथागोरसवादियों के विरुद्ध सोफिस्ट सम्प्रदाय का विश्वास था कि व्यक्ति की तुलना में समाज महत्त्वहीन है। बार्कर का मत है—

वे मानते थे कि भौतिक जगत की तरह ही नैतिक जगत् में संगठन का प्रमुख तत्त्व "प्रत्येक इकाई की अन्तर्निहित शक्ति

की संभावना" को ही होना चाहिए और यह भी कि प्रकृति के अनुसार अपनी शक्ति की सीमा तक दूसरों पर प्रभावी रहते हुए जीना ही जीवन है। उनका विश्वास था कि इसके प्रतिकूल जाने वाले सभी मानव-निर्मित नियम, जो भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न हैं, केवल कला एवं परिपाटी की उपज भर हैं, जिनकी कोई प्राकृतिक वैधता नहीं है। ऐसे नियमों के अनुसार दूसरों की गुलामी में रहना अर्थहीन है, और सभी मनुष्यों का उन सब पर अधिकार है, जिन्हें वे शक्ति से जीत सकें।[5]

प्लेटो ने 'एपालाजी' एवं 'क्रिटो' में राज्य एवं व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध में अभिव्यक्ति की है।[6] बार्कर के अनुसार यह है—

जहाँ भौतिक स्वार्थ दाँव पर हों वहाँ कानून का पालन करो और प्रसन्नतापूर्वक करो, अन्य क्षेत्रों में अवज्ञाकारी पुत्र एवं बेवफा साथी की भाँति व्यवहार करो जब सर्वोच्च अध्यात्मिक प्रश्न का मामला हो केवल तभी उसका उल्लंघन विरोध में करो।[7]

प्लेटो एवं अरस्तू के अनुसार "न्यायानुसार व्यवस्थित राज्य में ही व्यक्ति का समुचित जीवन संभव है। प्लेटो का मत था कि व्यक्ति की अधीनता के बिना वास्तविक राजनीतिक जीवन का विकास संभव ही नहीं है, जो समग्रवादी विचारधारा को तो मान्य है किन्तु लोकतांत्रिक विचारधारा को अमान्य है।"[8]

प्लेटो की मान्यता थी चूंकि समस्या ऐसे राज्य के निर्माण की है जिसमें सभी मनुष्यों का जीवन अच्छा और उपयोगी हो, कानून का काम यही है कि आवश्यक हो तो बल-प्रयोग करके भी उस अल्पमत का सहयोग प्राप्त किया जाये जो स्वेच्छया उसके लिए प्रस्तुत नहीं है उसके शिष्य अरस्तू के विचार भी न्यूनाधिक रूप से अपने गुरु के सदृश ही थे किन्तु उसने व्यक्ति के अधिकारों को उससे कहीं अधिक सीमित कर दिया था। अतः अरस्तू ने उन्हें उन प्राकृतिक विषमताओं के अनुपात में ही अधिकार देना उचित समझा था। प्रजातंत्र के सम्बन्ध में उसकी धारणा अच्छी नहीं थी और उसकी मान्यता थी कि राजतंत्र तथा अभिजाततंत्र शासन के उत्कृष्ट प्रकार हैं।

पाइथागोरसवादियों की तरह ही स्टोइक दार्शनिकों का मत था कि सामाजिक जीवन एक ऐसा कर्त्तव्य था जिसके समक्ष व्यक्ति को झुक जाना चाहिए तथापि सभ्यता की उनकी धारणा व्यापक थी और उन्होंने सम्पूर्ण मानवता के कल्याण को ही अपना लक्ष्य घोषित किया था। जबकि एपीक्यूरियन (भोगवादी) विचारक सोफिस्टों से सहमत थे कि व्यक्ति के अधिकारों को प्राथमिक महत्त्व प्राप्त होना चाहिए।

मध्ययुगीन विचारकों में इस धारणा का विकास हुआ था कि राज्य की स्थापना ईश्वर द्वारा की गयी थी, जिसने अपने अधिकार धर्म (चर्च) एवं राजा को हस्तान्तरित कर दिये हैं। अतएव राज्य की अवज्ञा इश्वर की अवज्ञा के बराबर थी। अंग्रेज दार्शनिक हॉब्स ने अपनी पुस्तक 'लेवियाथन' में राजाओं के दैवी अधिकार का समर्थन किया और कहा कि अपनी प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य अपने शत्रुओं के आक्रमणों के भय से सतत आक्रान्त रहते थे, जिससे मुक्ति पाने के लिए ही उन्होंने समाज की रचना की। इस प्रक्रिया में व्यक्तियों ने सुरक्षा के विनिमय में अपने बहुत से अधिकारों का परित्याग कर अपनी शक्ति शासक को सौंप दी जो कितना भी अत्याचारी क्यों न हो उनकी पूर्व-स्थिति के आतंक और निष्ठुरता की तुलना में कम खराब था। इस प्रकार हॉब्स के समय तक राज्य ही अपने आप में साध्य बन गया।

इन विचारों के विरुद्ध अंग्रेज दार्शनिक लॉक एवं फ्रांसीसी समाजशास्त्री जे.जे. रूसो का विश्वास था कि मनुष्य प्रकृत्या स्वतंत्र एवं समान हैं। उनके अनुसार समाज की रचना समूहों द्वारा अपने सामान्य हित के लिए किये गये अनुबन्ध के रूप में हुई किन्तु इसके पूर्व भी मनुष्य प्रकृत्या अच्छे एवं शान्ति प्रिय थे। रूसो ने 'प्राकृतिक मनुष्य' का अपना सिद्धान्त निरूपित करते हुए यह मत व्यक्त किया कि युद्ध अत्याचार एवं गरीबी सभ्यता की व्याधियाँ हैं, अतः कोई शासक या विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होना चाहिए और मनुष्यों को 'प्रकृति की ओर लौट चलना' चाहिए।

आगस्तकोम्त, जिसने समाज के उद्भव के स्पष्टीकरण के लिए 'सामाजिक अनुबन्ध' के सिद्धान्त को अस्वीकृत कर यह साबित किया कि सामाजिक अन्तःप्रेरणा मानव-प्रकृति में अन्तर्निहित है। उसकी व्याख्या के अनुसार सभ्यता का विकास तीन स्तरों पर होता हैः सैनिक स्तर, जिसमें शक्ति ही सर्वोपरि विधि होती है, संक्रमणकालीन क्रान्तिकारी स्तर एवं वस्तुनिष्ठ स्तर, जिसमें जन-जीवन का मार्गदर्शन वैज्ञानिक विशेषज्ञ करते हैं। लगभग उसी समय इंग्लैंड में जान स्टुअर्ट मिल अवसरों एवं धन वितरण की अधिकतर समानता की उत्सुकतापूर्वक अपेक्षा कर रहा था। यद्यपि उसने समाजवाद में अर्न्मुक्त अत्याचारों का प्रत्याख्यान किया तथापि उसका विश्वास था

कि एक सीमा तक राज्य नियंत्रण एक अनिवार्य बुराई के रूप में रहेगा ही। डार्विन के प्राकृतिक वरण के सिद्धान्त से प्रभावित होकर उपयोगितावादी दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर ने सामाजिक समूहों का मूलाधार उनके अति-जीवितोपयोगी मूल्य को माना। उसका विचार था कि राज्य का हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए जिससे योग्यतम की अतिजीविता का नियम अपने को पूर्णतः चरितार्थ कर सके।

पिछली मान्यता हीगल के दर्शन में अपने चरम रूप में मिलती है। उसके विचारानुसार समाज के सदस्यों के रूप में मनुष्य जिस स्वतंत्रता का उपभोग करते हैं वह उससे कहीं अधिक वास्तविक है जिसे प्रकृति के नियम-विहीन काल्पनिक राज्य से समाज में प्रवेश करते समय उन्होंने त्यागा था। केवल समाज में ही संभव यह स्वतंत्रता व्यक्ति के हृदय में निहित स्वतंत्रता की उच्चतम धारणा की बाह्याभिव्यक्ति या मूर्त रूप है। यह धारणा समाज के अभाव में असिद्ध ही रह जाती। हीगल के शब्दों में "राज्य से भिन्न कुछ भी स्वतंत्रता का यथार्थीकरण नहीं है।" यह सर्वसामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व एवं व्यष्टिगत व्यक्तित्व का अतिक्रमण करता है। राज्य "स्वचेतन नैतिक सत्ता एवं स्वज्ञाता तथा स्व-यथार्थकारी व्यष्टि है।" यूरोप के राष्ट्रीय राज्यों के चरित्र गठन में हीगल के निरपेक्षतावादी सिद्धान्त की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही है। न केवल राज्य का दैवीकरण हुआ बल्कि इसी के चलते राज्य का संचालक सर्वशक्तिमान राज्य के अतिमानवी गुणों का दृश्यमान मूर्त रूप बन गया। यह यहाँ तक बढ़ा कि राज्य स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय का प्रतिवाद बन गया।

राजनीतिक चिन्तन का परवर्ती झुकाव लोकतंत्र की स्थापना की ओर था, जो राज्यतंत्र का सामाजिक कल्याण के लिए उपयोग कर सकता था। पूंजीवाद के अन्तर्गत लोकतंत्र निरर्थक बन गया। जिस वर्ग के हाथ में उत्पादन के साधन हैं वह शासन पर अधिकार जमा लेता है और उसका उपयोग ऐसी स्थितियों के निर्माण के लिए करता है जिनमें गरीब श्रमजीवियों का शोषण किया जा सके। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि वर्तमान युग के प्रायः सभी राज्य लोकतंत्र के नाम की ही कसम खाते हैं किन्तु फिर भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं सामाजिक कर्त्तव्य का समन्वय नहीं हो पाया है। इसकी प्रतिक्रिया इस निदान में अभिव्यक्त हुई है कि बुराई राज्य में अन्तर्निहित है और इसीलिए मार्क्स सदृश उत्कट क्रान्तिकारियों ने एक ऐसे सिद्धान्त को प्रस्थापित करने की चेष्टा की जिसके अनुसार राज्य का लोप हो जायेगा। जिसकी एंगेल्स ने व्याख्या की और जिसे बाद में लेनिन ने कार्यान्वित किया।

समाज से उदित होने वाली किन्तु अपने को उसके ऊपर प्रतिष्ठित करने वाली यह शक्ति निरंतर बढ़ते हुए रूप से अपने को समाज से अलगाती जाती है।[9]

एंगेल्स का विश्वास है—...ज्यों ही समाज का कोई वर्ग ऐसा नहीं रह जाता जो पराधीन हो, तथा उत्पादन की पूर्ववर्ती विशृंखला पर आधारित वर्ग-प्रभुत्व एवं व्यक्तिगत अस्तित्व के लिए संघर्ष भी शेष हो जाता है और इनके उत्पन्न होने वाले टकराव एवं अतिरेक भी समाप्त हो जाते हैं त्यों ही दमन के लिए कुछ भी नहीं बचा रहता जिसके लिए राज्य के समान दमनकारी शक्ति आवश्यक हो।[10]

गांधी जी ने ऐसा मार्ग दिखाया है जिस पर चल कर विशिष्ट दमनकारी शक्ति के रूप में राज्य का सचमुच खात्मा कर सकते हैं। गांधी जी के जीवन का या यों कहें कि मानवता का पथ-प्रदर्शन सिद्धान्त सत्याग्रह अर्थात् सत्य पर आरूढ़ रहना है। गांधी जी का कथन है, "राज्य हिंसा के घनीभूत एवं संगठित रूप का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति के तो आत्मा होती है, किन्तु राज्य आत्माहीन यंत्र है, इसे हिंसा से, जिस पर इसका अस्तित्व ही निर्भर है, कभी मुक्त नहीं किया जा सकता।[11] यद्यपि शोषण को न्यूनतम करने के फलस्वरूप प्रत्यक्षतः वह कल्याणकारी प्रतीत होता है तथापि समस्त प्रगति के मूल में निहित 'व्यक्तित्व' को नष्ट कर मानवता को सबसे बड़ी हानि पहुँचाता है।[12]

गांधी जी का लक्ष्य ऐसी समाज-व्यवस्था है जिसमें "प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक स्वयं है। वह अपना शासन इस भांति करता है कि वह अपने पड़ोसियों के लिये कभी बाधा नहीं बनता। अतएव आदर्श राज्य में कोई राजनीतिक शक्ति नहीं होती क्योंकि कोई राज्य ही नहीं होता।[13]

प्राचीन भारत में राज्यहीन समाज का विचार

मद्रास के मिशनरी सम्मेलन में 14 फरवरी, 1916 को प्रदत्त अपने सुप्रसिद्ध भाषण में स्वदेशी भावना की व्याख्या करते हुए महात्मा गांधी ने कहा था, "राजनीति के क्षेत्र में मुझे देशज संस्थाओं का उपयोग (उनके प्रमाणित दोषों को दूर कर) करना चाहिए।"

विदेशी विजेताओं की विजय शक्ति ने उसकी जनता को पराधीन बना रखा था, वह लगातार ऐसी अशान्तियों एवं हलचलों से गुजरता रहा है जिसका अनुभव बहुत कम देशों को होगा। बिल्कुल आरम्भ के युगों के स्वाधीन समाज विद्वेषी शत्रुओं के समक्ष आरक्षित थे अथवा शक्तिशाली सरदारों की महत्वाकांक्षा से पीड़ित थे। वर्गों के उत्कट विभेदों का भी बहुत प्रभाव था और इन सबके कारण लगातार संशोधन एवं परिवर्तन होते रहते थे। एक के बाद एक चलने वाले दलों या सिद्धान्तों के संघर्षों, अशान्तियों एवं विकारों के फलस्वरूप पुरानी व्यवस्थाओं की नीवें हिलती रहीं और जनता के पुराने संगठन परिवर्तित-संशोधित होते रहे। समाज पुनः-पुनः नए सांचों में ढलता रहा, शासन बार-बार नये बनते रहे और इस तरह पुराना एवं सरल जीवन ढाँचा बदल गया।[14]

"बार-बार होने वाले विदेशी आक्रमणों से अराजकता फैली और इसी अराजकता ने नवीन सामाजिक एवं राजनैतिक पुनर्गठन का पथ प्रशस्त किया। दृढ़ीकरण की इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कबीले विलुप्त हो गये। छोटे-छोटे राज्य बड़े-बड़े साम्राज्यों में मिल गये जो अपने आकार एवं आन्तरिक विभिन्नताओं के कारण लोकतांत्रिक लोक-सभाओं के नियंत्रण के द्वारा दुष्परिचालनीय हो उठे। सामाजिक जटिलताओं एवं धार्मिक क्रान्तियों ने जनता की एकरूपता को नष्ट कर जाति के बन्धनों को शिथिल किया और विशुद्ध राजतन्त्र के विकास के मार्ग को सुगम बना दिया। पुरोहित-तन्त्र ने भी राजनीतिक अनुशासन की समस्या पर ब्रह्माण्ड व्यवस्था की दृष्टि से विचार कर उदीयमान राजतन्त्र की सत्ता की महिमा गायी।[15]

कीथ की उक्ति है कि "भारत की प्रखर और गंभीर मनीषा, जिसकी पूर्णतम अभिव्यक्ति शंकर के निरपेक्ष, भाववादी अद्वेत वेदान्त में तथा नागार्जुन के सन्देहशील शून्यवाद में हुई है, मनुष्य को ऐसा राजनीतिक प्राणी मानने की धारणा के विपरीत है जिसका वास्तविक उद्देश्य किसी सामाजिक समुदाय की सदस्यता के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। अतएव भारत का ऐसा कोई वाद नहीं है जिसे वृहत्तर अर्थ में राजनीति का गम्भीर वाद माना जा सके। किन्तु शासन के व्यावहारिक पक्ष का तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का गहरा अध्ययन किया गया था एवं इस विषय के लेखकों द्वारा इनके विविध पहलुओं का सूक्ष्म विश्लेषण तथा उप-विभाजन संख्यागत विवरण प्रदान करने की निष्ठा के साथ-साथ किया गया था।[16] वास्तव में प्रो. अजितकुमार सेन के शब्दों में, हिन्दू राजनीतिक चिन्तन प्रगाढ़ यथार्थवाद से ओतप्रोत है एवं कुछ अपवादों (शान्तिपूर्व के कुछ अंश, राजपद सम्बन्धी बौद्ध सिद्धान्त) के अतिरिक्त कतई अव्यावहारिक नहीं है।[17]

प्राचीन भारत में राज्य की स्थिति जन-समुदाय के सामाजिक जीवन के कार्य-व्यापार का अधीक्षण करने वाले अभिकरण के रूप में ही थी। इसका उद्देश्य था सामाजिक आदर्श की पूर्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना।

जीवन इस प्रकार नियंत्रित करना था कि प्रत्येक समूह अपने विशेष ढंग से अपने विशिष्ट आदर्शों के अनुसार अपना जीवनादर्श के पालन में रत अन्य अधिक शक्तिशाली या दुर्बल समूहों की ओर से उसे कोई बाधा न झेलनी पड़े। अतएव ऐसे सामाजिक संगठन में स्वभावतः परलोक सम्बन्धी वास्तविक धार्मिक मान्यताएँ अलग-अलग समूहों की अलग-अलग हो सकती थीं एवं सर्वसामान्य संगठन का कार्य यही रह जाता था कि प्रत्येक समूह अपना जीवन अपने विश्वासों के अनुसार बिता सके।[18]

प्राचीन भारत में राज्य एवं समाज के सम्बन्धों पर विचार करते हुए डॉ. मुखर्जी ने कहा है—

अहस्तक्षेप की नीति को राज्य की आदर्श नीति माना जाता था जिसका कार्यकलाप साधारणतः 'अलघुकरणीय न्यूनतम' अर्थात् जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा, कर-वसूली या कर्त्तव्य के समुचित निर्वाह तक सीमित था।

प्राचीन भारत में राजा राज्य का मुखिया था, समाज का नहीं। सामाजिक पदानुक्रम में उसका स्थान महत्त्वपूर्ण था किन्तु सर्वोच्च नहीं। राज्य के प्रतीक के रूप में जनता के लिए वह दूरवर्ती अमूर्त्त प्रत्यय की तरह था जिसका उसके दैनिक जीवन से कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं था, उसका शासन तो सामाजिक संगठन द्वारा होता था। राज्य एवं जनता के दैनिक जीवन की सामान्य रुचियों के सम्पर्क बिन्दु वस्तुतः कम थे।[19]

राजा के कर्त्तव्यों का समाहार करते हुए कौटिल्य ने कहा था कि (जनता के) योग क्षेम का निर्वाह ही उससे अभीष्ट है, जिसका अभिप्राय है स्वत्व (प्राप्त करने) की सुरक्षा या सम्पत्ति की रक्षा।

राजनीतिक इकाई ग्राम

डॉ. बेनीप्रसाद का कथन है—समाज की इकाई होने के कारण राजनीतिक संगठन की इकाई भी ग्राम था। वह अपने में पूरे

संसार सृदश ही था।[20] भारत में ये ग्राम-गणराज्य स्मरणातीत काल से चले आ रहे हैं। "यह दावा किया जाता है कि इस पद्धति का प्रवर्त्तन गंगा और समुना के दो-आबे में बस्तियाँ बसाते समय राजा पृथु ने किया था।"[21] महाभारत में ग्राम संघों के उल्लेख मिलते हैं। वाल्मीकीय रामायण में 'जनपद' का वर्णन आता है, जो संभवतः कई ग्रामों की इकाइयों का संघ होगा।

आरम्भिक वैदिक पद्धति में ग्राम अपने सरल कार्यों की व्यवस्था स्वयं कर लेते थे। "इसी प्रकार वेदोत्तर काल में भी ग्रामों को निगमित राजनीतिक इकाई माना जाता रहा।"[22] इसी तरह विष्णु स्मृति एव मनुस्मृति में ग्राम राज्य के ढाँचे की सबसे छोटी राजनीतिक इकाई माना गया है एवं ग्रामिक के रूप में गाँव के मुखिया का उल्लेख किया गया है। मनु ने स्पष्टतः यह निर्देश दिया है कि जो ग्रामीण समाज के अनुबंध को भंग करे उसे देश-निकाले का दंड देना राजा के लिए उचित है। धर्म-सूत्रों एवं धर्म शास्त्रों में गण एवं पूग के उल्लेख कई बार हुए हैं, ये दोनों शब्द नगर या ग्राम निगमों की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। डॉ. मजूमदार ने इस मत के समर्थन में अनेकानेक मान्य ग्रंथों एवं शिलालेखों के प्रमाण दिये हैं। कौटिल्य ने भी इन ग्राम-गणराज्यों का वर्णन किया है। मेगास्थनीज़ ने इन पंचायतों को 'पेन्तड' कहा है, शुक्राचार्य के नीतिसार में 'ग्राम राज्यों' का वर्णन पाते हैं। जातकों में भी ग्राम सभाओं के उल्लेख मिलते हैं।[23]

डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी का अन्वेषण हैः स्थानीय शासन के आत्म-निर्भर विकास ने कछुए की पीठ के समान वह ओट प्रदान की, जो शान्तिमय स्वर्ग के सदृश थी और देश में राजनीतिक तूफानों के आने पर जहाँ राष्ट्रीय संस्कृति अपने संरक्षण के लिए आत्म-संगोपन कर सकती थी।[24]

प्रो. एस.एन. अग्रवाल ने 'गांधियन कान्स्टीट्यूशन फॉर फ्री इंडिया' में इस तथ्य के समर्थन में अनेक प्रमाण दिये हैं कि "ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के पूर्व तक हिन्दू, मुस्लिम एवं पेशवा शासनों में भारतीय ग्रामीण गणराज्य विकसित होते रहे' और यह निष्कर्ष निकाला है कि "ईस्ट इंडिया कम्पनी के अत्यधिक एवं अनैतिक लोभ के कारण ये ग्राम पंचायतें क्रमशः विघटित हो गयीं। गाँव की काश्तकारी पद्धति के स्थान पर रैयतवारी पद्धति के जानबूझ कर किये गये प्रवर्त्तन ने ग्रामीण गणराज्यों के सामूहिक जीवन का अन्त ही कर दिया। ब्रिटिश नौकरशाही के हाथों में समस्त प्रशासनिक एवं न्यायिक अधिकारों के केन्द्रीकरण द्वारा ग्रामीण पदाधिकारी अपने युग-युग से चले आने वाले अधिकार एवं प्रभाव से वंचित हो गये।"[25]

महात्मा गांधी का स्वराज्य सम्बन्धी चिंतन

भारतीय स्वातंत्र्य के ठीक पहले 1946 में उन्होंने स्वतंत्रता का विस्तारपूर्वक विवेचन किया था तथा भारत की राजनीतिक संरचना के सम्बन्ध में अपने विचारों को पर्याप्त स्पष्ट किया था। उनका कथन है—

स्वतंत्रता का आरम्भ निम्नतम तल से ही होना चाहिए। अतएव प्रत्येक गाँव सर्वशक्ति सम्पन्न गणराज्य या पंचायत होगा। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक गाँव को आत्म-सम्पुष्ट एवं अपनी व्यवस्था करने में यहाँ तक सक्षम होना होगा कि सारी दुनिया से मुकाबला करके भी वह अपनी रक्षा कर सके।

उन्होंने आगे कहा है—असंख्य गाँवों से बने इस ढाँचे में सदा विस्तारी वृत्त होंगे, अधिरोही कभी नहीं। जीवन सूची-स्तम्भ (पिरामिड) की भांति नहीं होगा जिसमें शिखर का बोझ तल को वहन करना पड़ता है। लेकिन यह एक महासमुद्राकार वृत्त होगा, जिसका केन्द्र होगा वह व्यक्ति जो गाँव के लिए मर मिटने को सर्वदा प्रस्तुत होगा, और गाँव प्रस्तुत रहेगा गाँवों के वृत्त के लिए आत्मोत्सर्ग करने को, इस क्रम से अन्ततोगत्वा समष्टि ऐसे व्यक्तियों से निर्मित एक जीवन बन जाएगी जो अहंकार के वशीभूत हो कभी आक्रामक नहीं होंगे बल्कि सदा विनीत रहकर उस महासमुद्राकार वृत्त के बहुलांश के सहभागी बनेंगे जिसकी वे अभिन्न इकाइयाँ हैं। अतएव बाह्यतम परिधि आभ्यन्तर वृत्त को कुचलने के लिए शक्ति संचय नहीं करेगी बल्कि आभ्यन्तर को शक्ति प्रदान कर स्वयं भी उससे शक्ति संग्रह करेगी।[26]

सदा वर्धिष्णु समग्रवादी राज्य की सर्वाधिक क्लान्तिकर समस्या से मुक्ति पाने के ऐसे समाधान को हवाई कल्पना माना जा सकता है और वस्तुतः यह विवादास्पद हो सकता है कि अपने मूल रूप में इसे कार्यान्वित किया जा सकता है या नहीं। लोकतंत्र केन्द्रीकरण के प्रतिकूल है, क्योंकि यह ऐसी चेतना है जो जहाँ कहीं भी सामूहिक इच्छा को प्रकट करने की आवश्यकता होती है, वहीं अपने को अभिव्यक्त करने की तात्कालिक एवं स्थानीय स्वतंत्रता चाहती है।[27]

इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्राचीन भारत का ग्राम साम्यवाद गांधी जी के राजनीतिक विधान का आदर्श नहीं है। तथ्य यह है कि वह 'निकटतम अभिगम' है। उन्होंने लिखा है—

अहिंसा पर आधारित सभ्यता का निकटतम अभिगम हाल ही तक वर्तमान भारतीय ग्रामगणराज्य है। मैं स्वीकार करता हूं कि यह बहुत अपरिष्कृत था। मैं यह जानता हूँ कि उसमें मेरी परिभाषा एवं अवधारणा की अहिंसा विद्यमान नहीं थी किन्तु उसका बीज उसमें था।[28]

उनका आदर्श वस्तुतः उस अराजकता के अनुरूप है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति इतना प्रबुद्ध है कि उसका जीवन स्वतः नियन्त्रित होता है अतएव किसी बाहरी सत्ताधारी की आवश्यकता नहीं होती। उन्होंने कहा है—

स्वशासन का अर्थ ही है शासनिक नियन्त्रण से मुक्ति पाने की सतत चेष्टा, फिर चाहे वह विदेशी हो या स्वदेशी। यदि जनता अपने जीवन के प्रत्येक व्यवहार के नियन्त्रण के लिए उसकी मुखापेक्षी बनी रहेगी तो स्वराजी शासन की स्थिति भी दुःखद रहेगी।[29]

बाकुनिन के समान ही उनके लिए भी स्वतंत्रता केवल निषेधात्मक प्रत्यय नहीं है। उसका अर्थ किसी के अधिकारों पर बाह्य नियंत्रण के अभाव से कहीं अधिक है—उसका अर्थ है एक विवेकी प्राणी की विशिष्टतासूचक अन्तःप्रेरणा के अनुसार आचरण करने की क्षमता। मानव व्यक्ति की सच्ची स्वतंत्रता की मांग है कि एक ओर तो अन्यों द्वारा अपनी स्वतंत्रता की स्वीकृति करायी जाये दूसरी ओर अपनी ओर अन्यों की स्वतंत्रता का समान सम्मान किया जाये।[30] गांधी जी को पुनः उद्धृत किया जाये तो ज्ञात होता है कि, ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक है। वह अपना शासन इस प्रकार करता है कि वह कभी अपने पड़ोसियों के लिए विघ्न नहीं बनता और इसलिए आदर्श स्थिति राज्य में कोई राजनीतिक शक्ति नहीं होती क्योंकि कोई राज्य ही नहीं होता।[31]

निष्कर्ष

किन्तु अन्ततोगत्वा यह एक आदर्श ही है और यह तभी सम्भव है जब जनता पूर्णतः अहिंसक बन जाये। गांधी जी स्वप्नदर्शी नहीं, व्यावहारिक आदर्शवादी हैं। यहाँ भी आदर्श तक पहुंचने के लिए वर्तमान प्रयास पर जोर दिया गया है उसकी तात्कालिक उपलब्धि पर नहीं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः संक्रमणकाल के लिए वे राज्य का अस्तित्व स्वीकार कर लेते।

अन्ततः कहा जा सकता है कि गांधी जी की दृष्टि में राज्य हीगल की 'स्वतः प्रधानवस्तु' या 'उद्देश्य' न होकर एक साधन है—"जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी स्थिति को सुधारने में जनता को सक्षम बनाने के अनेक साधनों में से एक है।"[32] अतएव इसे जनता के जीवन से कम से कम, यदि एकदम आवश्यक हो जाये तभी हस्तक्षेप करना चाहिए। वे मान लेते हैं—मैं स्वीकार करता हूँ कि "कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें बिना राजनीतिक शक्ति के नहीं किया जा सकता किन्तु ऐसी बहुत सी बातें हैं जो राजनीतिक शक्ति पर कतई निर्भर नहीं करतीं।" इसीलिए थोरो के सृदश चिन्तक ने कहा है कि वही शासन सर्वश्रेष्ठ है जो कम से कम शासन करता है। इसका अर्थ यह है कि जब-जब राजनीतिक शक्ति पर जनता का अधिकार होता है तब-तब जनता की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप न्यूनतम होता है। दूसरे शब्दों में जो राष्ट्र राज्य के अधिक हस्तक्षेप के बिना अपना कामकाज सरलता एवं सफलता के साथ चला सकता हैं वही वस्तुतः लोकतांत्रिक हैं जहाँ ऐसी स्थिति नहीं है वहाँ शासन का स्वरूप केवल नाममात्र को लोकतांत्रिक है।

यह केन्द्रीय सत्ता अधिनायकवादी न बन जाये इसके लिए गांधी-पद्धति के अनुसार सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्य को तेजी से आगे बढ़ाना होगा और जनता को अपने जीवन में सत्याग्रह के सिद्धान्त का पालन करने के योग्य बनना पड़ेगा। समाज की ऐसी स्थिति में ही जनता वास्तविक स्वराज का उपभोग कर सकेगी जो आधारित होगा "सत्ता का अप-प्रयोग होने पर उसका प्रतिरोध करने की जनता की क्षमता पर जबकि इस प्रतिरोध में जनता की मार्गदर्शक शक्ति होगी सत्याग्रह की भावना।"[33]

संदर्भ सूची

1. बार्कर, अर्नेस्ट, ग्रीक पालिटिकल थीअरि, मेथुएन पब्लिशिंग लिमिटेड, 1960, पृ.सं. 16
2. उपर्युक्त, पृ.सं. 50
3. उपर्युक्त, पृ.सं 54
4. सेबाइन, जी.एच. (1941), प्रिन्सिपल्स ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, ऑक्सफोर्ड, पृ.सं. 13
5. बार्कर, अर्नेस्ट (1960), 'ग्रीक पालिटिकल थीअरि', मेथुएन पब्लिशिंग लिमिटेड, पृ.सं. 66

6. उपर्युक्त, पृ.सं. 121
7. उपर्युक्त, पृ.सं. 123
8. मरे, एच., राबर्ट, दि इन्डिविडयूअल एण्ड दि स्टेट देअर रिलेशन्स हिस्टारिकली कन्सिडर्ड, 1946, मिशिगन विश्वविद्यालय
9. एंगेल्स, फ्रेडरिक, ऑरिजिन ऑफ दि फैमिलि प्राइवेट प्रापर्टी, एण्ड दि स्टेट, शिकागो चार्ल्स एच केर एंड कंपनी सहकारी, 1902, पृ.सं. 177-78
10. एंगेल्स, फ्रेडरिक, एन्टी ड्यूहरिंग (अंग्रेजी संस्करण), प्रोग्रेस पब्लिशर, 1947, पृ.सं. 314-315
11. चटर्जी, रामानंद, मार्डर्न रिव्यू, डिजिटल लाइब्रेरी ऑफ़ इंडिया, 1935
12. 'इन्स्टेड ऑफ ए बुक', पृ.सं. 23 फ्रान्सिस डब्ल्यू कोकर द्वारा 'रिसेन्ट पालिटिकल थॉट' (1934) के पृ.सं. 198 पर उदद्धृत।
13. उपर्युक्त, पृ.सं. 2
14. प्रसाद, डॉ. महादेव, महात्मा गांधी का समाज दर्शन,, राष्ट्रीय प्रिन्टर्स, पंचशील गार्डन, शाहदरा, दिल्ली, 1989, पृ.सं. 178
15. वन्द्योपाध्याय, एन.सी., डिवलपमेंट ऑफ हिन्दू पाथ्लटी एण्ड पॉलिटीकल थीअरि, सेंट्रल आर्कियोलॉजिकल लाइब्रेरी, ऐसी, 1927, पृ.सं. 3-4
16. एन.एन. ला, एन्शन्ट इन्डियन पॉलिटी की भूमिका में लिखित, 1921
17. दिक्षितर, रामचंद, हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टलीट्यूशन, लाइफ स्पान पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2021
18. मुखर्जी, लोकल गवर्नमेंट इन एन्शन्ट इंडिया, लाइफ स्पान पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2020, पृ.सं. 3
19. प्रसाद, बेनी, दि स्टेट इन एन्शन्ट इंडिया, दी इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहबाद, 1928, पृ.सं. 7
20. उपर्युक्त
21. प्रसाद, महादेव, महात्मा गांधी का समाज दर्शन, राष्ट्रीय प्रिन्टर्स, पंचशील गार्डन, शाहदरा, दिल्ली, 1989, पृ.सं. 178.
22. बनर्जी, पी.एन., ब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन एन्शन्ट इंडिया, इंप्रिंट प्रेस, 1973, पृ.सं. 14
23. मजूमदार, आर.सी., 'कारपोरेशन लाइफ इन इन्शन्ट इंडिया', दी ओरिएण्टल बुक एजेंसी, 1922, पृ.सं. 141
24. मजूमदार, पूर्वोद्धृत, पृ.सं. 141-44
25. उपर्युक्त
26. प्रसाद, महादेव, महात्मा गांधी का समाज दर्शन, राष्ट्रीय प्रिन्टर्स, पंचशील गार्डन, शाहदरा, दिल्ली, 1989, पृ.सं. 178
27. कोल, जी.दी.एच., ए गाइड टु मार्डर्न पॉलिटिक्स, विक्टर गोलननकज लंदन, 1938, पृ.सं. 532
28. उपर्युक्त, पृ.सं. 534
29. गाँधी महात्मा, हरिजन, 1940, पृ.सं. 611
30. राय, लाला लाजपत, यंग इंडिया, खंड 1, 1931, पृ.सं. 290
31. कोकर, डब्ल्यू फ्रान्सिस, रीसेन्ट पालिटिकल थॉट, 1934, पृ.सं. 206
32. राय, लाला लाजपत, यंग इंडिया, 1931
33. उपर्युक्त